Shodhshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2023 SHISRRJ | Volume 6 | Issue 1 | ISSN : 2581- 6306

जनजातियों का प्रकृति प्रेम

डॉ0 शाहेदा सिद्दिकी
प्राध्यापक (समाजशास्त्र), शा0 ठाकुर रणमत सिंह, महाविद्यालय, रीवा, मध्य प्रदेश, भारत।

Article Info

Publication Issue :
January-February-2023
Volume 6, Issue 1

Page Number : 61-66

Article History
Received : 01 Jan 2023
Published :13 Jan 2023

शोधसारांश– जनजातीय समाज अलग किस्म का रहा है। उस समाज के लोकाचार की विधाएँ जंगलों–पहाड़ों और नदियों के साथ समेकित रही हैं। सामाजिक मान्यताएं, सांस्कृतिक समझ और आस्थाओं से जुड़ी संवेदनाएं किसी अन्य प्रकार की अवधारणाओं को पोसती हुई नजर आती हैं। उनकी सामाजिक प्रवृत्ति और उनका सांस्कृतिक झुकाव सामूहिकता को बढ़ावा देते हुए व्यक्ति से व्यक्ति को जोड़ने का विश्वास पैदा करने में समर्थ दिखता है। आदिवासी जीवनशैली में आबोहवा से लेकर अन्य तरह के प्राकृतिक अवयवों की बेहतरीन भूमिका प्रत्यक्ष तौर से देखी जा सकती है। पेड़ों की पूजा और सुसंगत तरीके से उन्हें काटने का अनुशासन जनजातीय समाज में युगों से है। इस बात को नयी पीढ़ी को समझना होगा। इस समाज की अनगिनत पीढ़ियों ने अपनी सोच, भावनाओं, जीवनशैली, अपने लोकाचार, जीवन–व्यवहार, धर्म, आस्थाओं और संस्कारों में प्रकृति को केंद्र में रखकर जिस कुदरत को बचाया है, उसे बचाकर रखना हमारा बुनियादी कर्तव्य है।

कूट शब्द : सांस्कृतिक समझ, लोकाचार, लोकज्ञान, जीवनशैली, बुनियादी कर्तव्य आदि।

जनजातीय यानी पहाड़ों और जंगलों में बसी बस्तियों का निवासी। दुनिया में इस शब्द के साथ यही तस्वीर अंतर्मन में आती है कि ऐसा समाज जो जंगलों में रहता चला आया है। प्रकृति के बीच रहकर, उसके साथ सामंजस्य बिठाकर वह जैव–संसाधनों का प्राचीन और सच्चा रखवाला होता है।[1] एक आदिवासी कुदरत से जुड़े ज्ञान का युगीन विशेषज्ञ माना जाता है और प्रकृति के मनोनुकूल जीवनशैली का वह एक अभिज्ञ, अद्भुत और अनुभवी साधक होता है। इस समाज का जीवन–दर्शन और जंगलों के इन रहवासियों के शाश्वत मूल्यबोध इस बात को बखूबी दर्शाते हैं कि पेड़ों–वनस्पतियों के अलावा अन्य किस्म के प्राकृतिक अवयवों पर आधारित इनका लोकज्ञान अपार और असीमित है। बेशक, इनके समाज

Copyright: © the author(s), publisher and licensee Technoscience Academy. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution Non-Commercial License, which permits unrestricted non-commercial use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited

की रचना और उसे बनाए रखने की प्रतिबद्धता इतनी बेमिसाल होती है जो इनकी पहचान के विभिन्न सम्बोधनों में भी इन्हें प्रकृतिजीवी होना बताता है।[2]

इसमें कोई शक नहीं कि जीवन का तत्व–बोध आदिवासी समाज से बेहतर कौन जानता है, जो कहता है, सेनगे सुसुन, काजिगे दुरंग.....[3] यानी चलना नृत्य है और बोलना गीत–संगीत है। यही जीवन है। जी–तोड़ मेहनत के बाद देर रात तक मौसम की परवाह किए बिना गांव के सारे लोगों का सार्वजनिक खुला स्थल में साथ–साथ नाचना और गाना चलता है। बसंत में सरहुल खुशियों का पैगाम माना जाता है जब प्रकृति पूरे यौवन पर होती है। फसलों से घर और फलों–फूलों से जंगल भरा रहता है। कितना खूबसूरत है यह सुनना कि प्रकृतिजीवी आदिवासी ऐसा मानते हैं कि प्रकृति किसी को भूखा नहीं रहने देती है।

आदिवासी शब्द का प्रयोग मूलतः उन निवासियों के लिए किया जाता है जिनका उस भौगोलिक क्षेत्र के ज्ञात इतिहास से पुराना संबंध रहा है, जो क्षेत्र सदियों से घनघोर जंगलों से आच्छादित रहे हैं।[4] इस इंसानी समूह का इतिहास जंगलों के बढ़ने और समृद्ध होने का इतिहास है।[5] उन जंगलों–जमीनों–जल संकायों–नदियों को बचाने और उन्हें सम्पन्न किए जाने का इतिहास है, न कि दो राजाओं के बीच परस्पर लड़ाईयों के पराक्रम का इतिहास है। यदि आदिवासियों को 'जनजाति', 'वनवासी', 'गिरिजन', 'ऐबोरिजिनल', 'इंडिजिनस', 'देशज' आदि नामों से पुकारते हैं तो इन तमाम शब्दों और सम्बोधनों के अपने तर्क हैं जो कहीं न कहीं से उन्हें जल–जमीन–जंगल और जानवर से भरी सम्पदाओं का सबसे करीबी होना साबित करता है।[6]

जनजातियों के प्रकृतिजीवी होने की कहानी भी रोचक है। यह उनके पूर्वजों की पसंद का नतीजा है। एक नजर हजारों साल पहले के इतिहास पर–आखेट से आगे बढ़कर जब समूची सभ्यता पशुपालन और बाद में कृषि अपनाना पसंद कर रही थी तो देश की एक बड़ी आबादी जंगलों में ही रह गई। परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति में फ्रेडरिक ऐंगल्स लिखते हैं कि 'ध्यान देने की बात है कि बर्बर युग से आगे कुछ पशुओं को पालतू बना चुके आदिम समाज के बीच खेती की प्रवृत्ति शुरू हुई तो सब के सब खेती–किसानी या पशुपालन से नहीं जुड़े।' बल्कि सभ्यता के एक बड़े हिस्से जंगलों में रहकर अपनी आदिमता में रहना पसंद किया। उन्होंने कृषि कर्म आंशिक तौर से अपना लिया क्योंकि वे अपने गोतिया लोगों के संपर्क में जरूर थे और लम्बे कालानुक्रम में जंगलों में ही शिकार–आखेट, वनोपज संग्रह करते हुए बांस–खरपतवार से अपने रिहाइश के निर्माण से जिन्दगी जीने लगे। इस निर्माण की अलग–अलग शैली उभर कर सामने आयी जो स्थानीय मौसम–बारिश से लेकर उपलब्ध जंगल के

संसाधनों पर निर्भर थी।[7] जैसे झारखण्ड में बंदरों को मारकर खाने वाले विरहोरों ने साखू के पत्तों से घर बनाया तो तमिलनाडु, कर्नाटक और केरल में फैली नीलगिरि की पहाड़ियों में टोडा आदिवासियों ने अपना घर बिलकुल अंडाकार आकार में बनाया। क्योंकि वहां बारिश अधिक होती है तो छतों से पानी का तत्काल बहना जरूरी है। गुफाओं से निकलकर सभ्यता का स्वाद सूंघते आदिवासियों की यह पहली टेक्नोलॉजी थी, जो आज भी मौजूद है।

खेती अपना चुकी इंसानी आबादी ने घरों के निर्माण के साथ बस्तियां बसाकर सभ्यता के कई चरण पूरे किए। जो जंगलों में थे, उन्होंने गृहस्थी की धीमी प्रक्रिया को बरकरार रखा जबकि ग्राम के रहवासियों ने अनाज कूटने और पीसने के साधनों का आविष्कार किया। इस वर्ग का नगरीकरण या आधुनिकीकरण से कोई वास्ता नहीं था। यानी राज्य की अवधारणा के तमाम घटकों और गुणकों से वे सब के सब दूर रहे। वे जंगलों के थे, जंगलों में थे और जंगलों के लिए थे। लिहाजा, उनकी जीवनशैली में प्रकृति का खालिसपन आज भी देखने को मिलता है।

जंगलों और पहाड़ों में रहने वाले उन आदिवासियों का अपना साहचर्य से भरा समाज रहा है। एक बेजोड़ सांस्कृतिक मूल्यबोध रहा है। प्राकृतिक अवयवों पर आधारित आर्थिक तंत्र रहा है जो बाद में खेती–पशुपालन और आखेट की एक मिश्रित व्यवस्था में तब्दील हो गया था। यानी 'उनकी सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक परिस्थितियाँ उन्हें राष्ट्रीय समुदाय के अन्य वर्गों से अलग करती हैं।' कहने का आशय है कि जिन्हें आज हम आदिवासी कहते हैं, जनजाति कहते हैं, जिन्हें वनवासी भी कहा जाता है, उनका समाज अलग किस्म का रहा है। उस समाज के लोकाचार की विधाएँ जंगलों–पहाड़ों और नदियों के साथ समेकित रहीं हैं। सामाजिक मान्यताएं, सांस्कृतिक समझ और आस्थाओं से जुड़ी संवेदनाएं किसी अन्य प्रकार की अवधारणाओं को पोसती हुई नजर आती हैं। उनकी सामाजिक प्रवृत्ति और उनका सांस्कृतिक झुकाव सामूहिकता को बढ़ावा देते हुए व्यक्ति से व्यक्ति को जोड़ने का विश्वास पैदा करने में समर्थ दिखता है।

भारत के संदर्भ में आदिवासी जीवन के प्राचीन जीवनशैली से लेकर आजादी मिलने के बहुत दशकों बाद तक क्रमागत जिन्दगी के कुछ अबूझ वैशिष्ट्य लक्षण रहे हैं। यहाँ तक कि युवापन के दस्तक देने के ठीक पहले शयन की जो व्यवस्था थी, वह भी सामूहिक स्तर पर चलायी जाती थी। भोजन–उत्सव–मनोरंजन और मैथुन की सामूहिक व्यवस्था सर्वानुमति मूलक व्यवस्था में संचालित होने से किसी आदिवासी में एकाकीपन नहीं आता था।

जनजातीय जीवनशैली में आबोहवा से लेकर अन्य तरह के प्राकृतिक अवयवों की बेहतरीन भूमिका प्रत्यक्ष तौर से देखी जा सकती है। इनके पूर्वज हवाओं में प्राण–वायु बनकर रहते हैं और मौसमी घटाओं में जा घुलते हैं। इसलिए पूर्वजों से लगाव रखने के लिए हवाओं का शुद्ध होना इनकी जिन्दगी की प्राथमिकता है तो बादलों का निरंतर आते रहना उनकी आत्मिक इच्छा होती है। इन दोनों के लिए पेड़ों की मौजूदगी चाहिए। पेड़ों का महत्त्व आदिवासियों के जीवन का मर्म है। वह उनमें अपनी आत्मा तलाशते हैं। ऐसी मान्यता है कि उन पेड़ों की शाखाओं में सारे कुटुम्बों का वास रहता है। उन मृतात्माओं की यादें गाँव की सरहद पर सजी शिलाओं में समाहित हो जाती हैं जिसे 'ससनदीरी' कहते हैं।[8] ससनदीरी उनके अपनों का प्रतीक है जो गांवों की सीमा तय करता है। इसी प्रक्रिया में वे पहाड़ों को पूजते हैं। उसका मनुहार करते हैं कि हमारे साथ बने रहिये। हर नए काम के पहले पत्थरों में रहते अपने कुल देवताओं को और पूर्वजों को याद किए जाने का रिवाज है और जंगलों में जाने के पहले किसी शिला–पूजन से कोई आदिवासी समाज अछूता नहीं रहता है।

आज्ञा लेना और पूर्वजों को मनाकर चलना खास तरह की वैचारिक पद्धति है जो टोटम के तौर पर जानी जाती है। उस टोटेम भी वनस्पतियों का उपयोग है, उन फूल–पतियों का सम्मान है जो खास मौसम में खिलते हैं, फूलते हैं और फलते हैं। टोटेम के लिए महत्वपूर्ण फूल आदिवासियों में पूजनीय बन जाते हैं। टोटेम की मान्यता और उसके प्रति लोक लोक आस्थायें बेहद महत्वपूर्ण होतीं हैं। किवदंतियों के मुताबिक जब महा□रत का युद्ध चल रहा था, तब आदिवासियों ने युद्ध में कौरवों का साथ दिया था, जिस कारण कई मुंडा सरदार पांडवों के हाथों मारे गए थे। इसलिए उनके शवों को पहचानने के लिए उनके शरीर को साल के वृक्षों के पत्तों और शाखाओं से ढका गया था। इस युद्ध में ऐसा देखा गया कि जो शव साल के पत्तों से ढंके गए थे, वे तमाम शव सड़ने से बच गए थे और बिलकुल ठीक थे। किन्तु जो अन्य चीजों से ढंके गए थे, वे तमाम शव सड़ गए थे। ऐसा माना जाता है कि इसके बाद साल के पेड़ों और पत्तों पर आदिवासियों का विश्वास बढ़ गया। ऐसा भी माना जाता है कि आधुनिक युग में सरहुल पर्व के रूप में उसी घटना को याद करते हुए मनाया जाता है जिसमें साल के पेड़ और पत्ते सबसे ज्यादा महत्व रखते हैं। लेकिन झारखंड के आदिवासियों का ऐसा कहना है कि महाभारत युद्ध के बहुत पहले ही यह वृक्ष उनकी आस्थाओं का केंद्र बन चुका था।

आदिवासियों का कल्पवृक्ष महुआ है। जैसे हिन्दुओं में तुलसी की पवित्रता की एक से एक आाख्यिकाएँ हैं वैसे ही आदिवासियों के बीच महुआ पवित्र है। यह फूल आदिवासियों की खुशियों का मीटर है क्योंकि पारम्परिक अर्थव्यवस्था की रीढ़ के तौर पर इसकी मान्यता रही है। यानी महुआ अच्छा

तो साल भर की गृहस्थी का काम अच्छा। नहीं तो सभी तरह के खर्चे टालने पड़ते हैं। महुआ की तरह प्रकृति के तमाम जीव और वनस्पतियां आदिवासियों के लिए कितनी महत्वपूर्ण हैं, ऐसी जिज्ञासा जरूर होती है। ओडिशा के सीमा के साथ जुड़े झारखण्ड के कोल्हान इलाके में परम्परा है कि घर के नए दामाद या बेटा केकड़ा पकड़ने खेतों में जाते हैं। उनके द्वारा पकड़े गए केकड़े को साल पेड़ के पत्तों से लपेटकर रसोई में चूल्हे के सामने उसे टांग दिया जाता है। आषाढ़ आते–आते केकड़ा कब का मर चुका होता है और तब खेतों में बीज बोने के समय केकड़ा का चूर्ण बनाकर बीज के साथ खेत में बोया जाता है। इस परम्परा को लेकर ऐसी मान्यता है कि केकड़ा के पैर की तरह फसल में वृद्धि होगी। आदिवासी समाज में ऐसी मान्यता है कि ऐसा करने से घर में खुशहाली आती है। फसलों में वृद्धि के लिए समुचित बरसात का होना भी जरूरी है। झारखंड के पलामू और उत्तर प्रदेश के सोनभद्र जिलों में उरांव जनजाति के पुजारी (पाहनों) ढोल–मांदर बजाते हुए करीब की नदी, तालाब या कुएं से दो घड़ों में पानी लाकर सरनास्थल के उत्तर और दक्षिण दिशा में उन्हें रखा जाता है। पानी की गहराई साल के तने से नापी जाती है। फिर दूसरे दिन घड़े में पानी को उसी तने से नापा जाता है। पानी के कम होने या ना होने पर इस साल वर्षा का अनुमान किया जाता है।

आदिवासियों का वनस्पतियों से लेकर प्राणियों और परिंदों से सरल और सीधा नाता है। वे मौसम के मिजाज और जंगल की भावनाओं को समझते हैं। आधुनिकता की जगमग से अँधियारा जरूर छँट रहा है लेकिन इन बढ़ती आधुनिक सुविधाओं के बीच अपना जीवन जीना और आसपास के जीव–जंतुओं के साथ साहचर्य की संस्कृति में उत्सवजीवी होना ही आज भी आदिवासी समाज की जिन्दगी की मूल भावना होती है। इन पेड़ों और जल–संसाधनों, सब पर आश्रित सैकड़ों किस्मों के जीव–जंतु, पशु–पक्षी, कीट–पतंग इतने महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं कि बस्तियों में रहने वाले आदिवासी इन सबको अपने अलग–अलग गोत्र नाम से जोड़ लेता है। जो समूह जिस जानवर–जीव को अपना कुल–गोत्र का प्रतीक मान लेता है, वह उसकी हत्या नहीं करता। जैसे झारखंड के कच्छप गोत्र के आदिवासी कछुए का शिकार नहीं करते। आंध्र प्रदेश के गोदावरी तटीय इलाकों, खासतौर से नल्लामल्ला की पहाड़ियों के आदिवासी बाघों का शिकार नहीं करते, चूंकि बाघ उनके लिए बेहद पवित्र और पूर्वजों के संपर्क में रहने वाला जानवर है।

आदिवासी का मतलब महज पहाड़ों और जंगलों में रहना नहीं है बाल्कि प्रकृति के बीच का इंसान, उसे जोगाकर, संभालकर–संभलकर कुदरत के अवयवों को सालों–साल तक बचाकर रखने वाला मनुष्य ही आदिवासी है। आधुनिक जमाने में अपने देश में जिन 'सेक्रेड ग्रोव' यानी पवित्र उपवन की

अवधारणा को बेहद सम्मान से स्वीकार किया जाता है उसे आदिवासी समाज के मूल चिंतन और उनकी जीवनशैली के परिप्रेक्ष्य में देखना जरूरी है। ये तमाम 'ग्रोव' अलग–अलग आकारों के जंगल के टुकड़े हैं, जो धार्मिक सद्भावनाओं और मंशाओं के साथ आज संरक्षित हैं। ये आमतौर पर महत्वपूर्ण धार्मिक अर्थ रखते हैं। शिकार और पेड़ों की कटाई से इन्हें मुक्त रखा जाता है। पेड़ों की पूजा और सुसंगत तरीके से उन्हें काटने का अनुशासन जनजातीय समाज में युगों से है। इस बात को नयी पीढ़ी को समझना होगा। इस समाज की अनगिनत पीढ़ियों ने अपनी सोच, □भावनाओं, जीवनशैली, अपने लोकाचार, जीवन–व्यवहार, धर्म, आस्थाओं और संस्कारों में प्रकृति को केंद्र में रखकर जिस कुदरत को बचाया है, उसे बचाकर रखना हमारा बुनियादी कर्तव्य है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. (Shivamurthy, Y.L., H.K. Rashmi, Hassan S. Rajani, and Doddaiah Narayanappa. 2017. A Comparative Study on Sociodemographic Characteristics between Tribal and Non-Tribal Children. Pediatric Education and Research 5 : 129.)
2. (Honoring Tribal Spirituality in India : An Exploratory Study of Their Beliefs, Rituals and Healing Practices Shannal Rowkith and Raisuyah Bhagwan)
3. (Undertrials. In__.Jharkhand.pdf (sanhati.com)
4. (Xaxa, V. 1999 `Tribes as Indigenous People of India'. Economic and Political Weekly 34(51) : 3589-3595)
5. (Omvedt, G. (1988) `Review : Are `Adivasis' Subaltern?'. Economic and Political Weekly, 23(39) : 2001-2002 : 2001)
6. Sunder, N. 2009, Legal Grounds : Law, Politics and Practices in Jharkhand)
7. D. & S. Dasgupta 2011, The Politics of Belonging in India : Becoming Adivasi, London and New Yourk : Routledge
8. Ancient Society, L.H. Morgan, pp 465-66